

Chapter आठ

भरत महाराज के चरित्र का वर्णन

यद्यपि भरत महाराज परम सिद्ध थे, किन्तु एक नन्हे मृगशावक के प्रति आसक्त होने से उनका पतन हुआ। एक दिन सदा की भाँति गण्डकी नदी में स्नान करके भरत महाराज मंत्र का जाप कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक गर्भिणी मृगी नदी में पानी पीने आई। सहसा किसी सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ी और मृगी इतनी भयभीत हो गई कि उसने तुरन्त अपने शिशु को जन्म दे दिया। मृगी ने किसी तरह नदी पार तो कर ली, किन्तु तत्पश्चात् उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई। महाराज भरत को माताविहीन मृगशावक पर तरस आया, उन्होंने उसे जल से निकाला और अपने आश्रम में लाकर अत्यन्त लाड से उसे पाला। धीरे-धीरे वे इस नन्हे मृग पर इतने आसक्त हो गये कि सदैव उसी के सम्बन्ध में स्नेहवत् सोचते रहते। जैसे-जैसे वह बढ़ता गया वह महाराज का स्थायी संगी बनता गया और वे सदैव उसी का ध्यान करते। अन्ततः वे इसके ध्यान में इतने खो गये कि उनका मन विह्वल हो उठता। ज्यों-ज्यों मृग के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती गई उनकी भक्ति शिथिल पड़ती गई। यद्यपि उन्होंने अपने ऐश्वर्यमय साम्राज्य का परित्याग कर दिया था, किन्तु वे इस मृग से बँध गये। इस प्रकार योगाभ्यास से उनका पतन हो गया। एक बार मृग वहाँ से गायब था तो वे इतने विचलित हुए कि वे उसकी खोज में चल पड़े। खोजते समय विलाप करते रहने से वे गिर पड़े और मर गये। चूँकि उनका मन मृग की सोच-विचार में पूर्णतः मग्न रहता था; इसलिए अगले जन्म में वे मृगी की कोख से उत्पन्न हुए। लेकिन सिद्ध होने के कारण मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी वे अपने पूर्वकर्मों को विस्मृत नहीं कर पाये; उन्हें ज्ञान था कि वे उच्च पद से किस प्रकार नीचे गिरे थे, अतः अपनी मृगी-माँ को छोड़कर वे पुनः पुलह-आश्रम चले आये। उन्होंने अपने सकाम कर्मों का अन्त मृग रूप में किया और जब उनकी मृत्यु हुई वे मृग-शरीर से मुक्त हो गये।

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिमृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेशः ॥

१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; महा-नद्याम्—गण्डकी नामक महानदी में; कृत-अभिषेक-नैयमिक-अवश्यकः—नित्य नैमित्तिक तथा शौचादि कार्यों से निवृत्त होकर, स्नान करके; ब्रह्म-अक्षरम्—प्रणव मंत्र (ॐ) का; अभिगृणानः—जप करते हुए; मुहूर्त-त्रयम्—तीन मुहूर्त तक; उदक-अन्ते—नदी के तट पर; उपविवेश—बैठ गये।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्! एक दिन प्रातःकालीन नित्य-नैमित्तिक शौचादि कृत्यों से निवृत्त होकर महाराज भरत कुछ क्षणों के लिए गण्डकी नदी के तट पर बैठ कर ओंकार से प्रारम्भ होनेवाले अपने मंत्र का जप करने लगे।

तत्र तदा राजन्हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नदी के तट पर; तदा—उस समय; राजन्—हे राजा; हरिणी—मृगी; पिपासया—प्यास के कारण; जलाशय-अभ्याशम्—नदी के निकट; एक—एक; एव—निश्चय ही; उपजगाम—आई।

हे राजन्, जब महाराज भरत उस नदी के तट पर बैठे हुए थे उसी समय एक प्यासी हिरनी पानी पीने आई।

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—उस मृगी द्वारा; पेपीयमाने—अत्यन्त तृप्ति के साथ पिया गया; उदके—जल; तावत् एव—ठीक उसी समय; अविदूरेण—अत्यन्त निकट; नदतः—गरजता हुआ; मृग-पतेः—सिंह की; उन्नादः—दहाड़; लोक-भयम्-कर—समस्त जीवों के लिए अत्यन्त डरावनी; उदपतत्—उठी।

जब वह हिरनी अगाध तृप्ति के साथ जल पी रही थी तो पास ही एक सिंह ने घोर गर्जना की। यह समस्त जीवों के लिए डरावनी थी और इसे उस मृगी ने भी सुना।

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्सहसैवोच्चक्राम. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम् उपश्रुत्य—उस दहाड़ को सुनकर; सा—वह; मृग-वधूः—मृगी; प्रकृति-विक्लवा—स्वभाव से अन्यों द्वारा मारे जाने से भयभीत; चकित-निरीक्षणा—चकित नेत्रों वाली; सुतराम् अपि—तुरन्त ही; हरि—सिंह के; भय—डर; अभिनिवेश—आने से; व्यग्र-हृदया—व्यग्र-चित्त वाली; पारिप्लव-दृष्टिः—चौकन्ने नेत्रों वाली; अगत-तृषा—अपनी प्यास बुझाये बिना; भयात्—डर से; सहसा—अचानक; एव—ही; उच्चक्राम—नदी पार करने लगी।

मृगी स्वभाव से अन्यों द्वारा वध किये जाने से डर रही थी और लगातार शंकित दृष्टि से देख रही थी। जब उसने सिंह की दहाड़ सुनी तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी। चौकन्नी दृष्टि से इधर-

उधर देख कर वह मृगी अभी जल पीकर पूर्णतया तृप्त भी नहीं हुई थी कि सहसा उसने नदी पार करने के लिए छलाँग लगा दी।

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात. ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्या:—उसके; उत्पतन्त्या:—बलपूर्वक कूदने से; अन्तर्वत्या:—गर्भ होने से; उरु-भय—अत्यन्त डर के कारण; अवगलितः—छिटक कर; योनि-निर्गतः—गर्भ से बाहर आकर; गर्भः—गर्भस्थ शिशु; स्रोतसि—बहते जल में; निपपात—गिर गया।

मृगी गर्भिणी थी, अतः जब डर के मारे वह कूद पड़ी तो शिशु मृग उसके गर्भ से निकल कर नदी के बहते जल में गिर गया।

तात्पर्य : यदि स्त्री डर जाती है या अत्यन्त भावुक हो जाती है, तो गर्भपात की आशंका रहती है।

अतः गर्भिणी स्त्रियों को ऐसे बाह्य प्रभावों से दूर रखना चाहिए।

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्या कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्-प्रसव—उसके (मृग शावक) असामयिक गिर जाने से; उत्सर्पण—नदी में छलाँग लगाने से; भय—(तथा) भय से; खेद—निर्बलता से; आतुरा—पीड़ित; स्व-गणेन—मृग-झुंड से; वियुज्यमाना—विलग हुई; कस्याञ्चित्—किसी; दर्याम्—पर्वत की गुफा में; कृष्ण-सारसती—कृष्ण मृग की पत्नी (मृगी); निपपात—गिर गई; अथ—अतः; च—तथा; ममार—मर गई।

अपने झुंड से विलग होने तथा गर्भपात से त्रस्त हो जाने से वह कृष्णा-मृगी नदी को पार करके अत्यन्त भयभीत हुई। अतः एक गुफा में गिर कर वह तुरन्त मर गई।

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तु—लेकिन; एण-कुणकम्—मृग शावक (हरिणी का बच्चा) को; कृपणम्—बेचारे; स्रोतसा—लहरों के द्वारा; अनूह्यमानम्—तैरता हुआ; अभिवीक्ष्य—देख कर; अपविद्धम्—आत्म-जन से विलग (वियुक्त); बन्धुः इव—मित्र की भाँति; अनुकम्पया—दयावश; राज-ऋषिः भरतः—परम सन्त तुल्य राजा भरत; आदाय—लाकर; मृत-मातरम्—मातृविहीन; इति—ऐसा सोचते हुए; आश्रम-पदम्—आश्रम में; अनयत्—ले गया।

नदी के तीर पर बैठे हुए महान् राजा भरत ने अपनी माँ से बिछुड़े बच्चे को नदी में उतराते देखा। यह देख कर उन्हें बड़ी दया आई। उन्होंने विश्वासपात्र मित्र की भाँति उस नन्हेशावक को लहरों से निकाल लिया और मातृहीन जान कर वे उसे अपने आश्रम में ले आये।

तात्पर्य : प्रकृति के नियम जिस सूक्ष्मता से लागू होते हैं उसका हमें ज्ञान नहीं होता है। महाराज भरत उन्नत भक्त और महान् राजा थे। वे परमेश्वर की प्रेमाभक्ति को प्राप्त करने ही वाले थे, किन्तु उस पद से भी भौतिक स्तर पर वे नीचे गिर गये। इसलिए भगवद्गीता (२.१५) में यह चेतावनी दी गई है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

“हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख-दुख को समान समझ कर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।”

भौतिक बन्धन से मोक्ष तथा मुक्ति के प्रति अग्रसर होने में अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी त्रुटि रह जाने से पुनः संसार में गिरना पड़ता है। महाराज भरत के चरित्र का अध्ययन करके हम सभी प्रकार की भौतिक आसक्ति से मुक्त होने की कला सीख सकते हैं। जैसाकि आगे के श्लोकों से पता चलेगा, भरत महाराज को मृग शरीर धारण करना पड़ा, क्योंकि मृगशावक पर उनका अत्यन्त ममत्व हो गया था। हमें चाहिए कि हम मनुष्य को भौतिक स्थिति से दिव्य स्थिति तक उठाने में दयालु बनें, क्योंकि पता नहीं कब हमारी यह सिद्धि नष्ट हो जाये और हमें नीचे गिरना पड़े। महाराज भरत का मृग के प्रति दया भौतिक जगत् में उनके पतन की शुरुआत थी।

तस्य ह वा एणकुणक

उच्चैरेतस्मिन्कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तपोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः

पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन विद्युज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—राजा का; ह वा—निसन्देह; एण-कुणके—मृग शावक में; उच्चैः—अत्यधिक; एतस्मिन्—इसमें; कृत-निज-अभिमानस्य—जिसने मृगशावक को पुत्रवत् स्वीकार किया; अहः-अहः—प्रतिदिन; तत्-पोषण—उस छौने को पाल कर बड़ा करना; पालन—संकटों से रक्षा; लालन—लाड़-प्यार; प्रीणन—पुचकारना; अनुध्यानेन—ऐसी आसक्ति से; आत्म-नियमाः—अपने शरीर की रक्षा हेतु किये गये कृत्य; सह-यमाः—यम अर्थात् अहिंसा, सहनशीलता तथा सरलता से युक्त; पुरुष-परिचर्या-आदयः—भगवान् की आराधना तथा अन्य कृत्य; एक-एकशः—एक-एक करके; कतिपयेन—कुछ ही; अहः-गणेन—दिनों में; विद्युज्यमानाः—त्यागे जाकर; किल—निसन्देह; सर्वे—समस्त; एव—ही; उदवसन्—नष्ट हो गये।

धीरे-धीरे महाराज भरत उस मृग के प्रति अत्यन्त वत्सल होते गये। वे घास खिला-खिलाकर उसका पालन करने लगे। वे बाघ तथा अन्य हिंस्र पशुओं के आक्रमण से उसकी सुरक्षा के प्रति

सदैव सतर्क रहते थे। जब उसे खुजली होती तो वे सहलाते और उसे आरामदेह स्थिति में रखने का प्रयत्न करते। कभी-कभी प्रेमवश उसे चूमते भी थे। इस प्रकार मृग के पालन पोषण में आसक्त हो जाने से महाराज भरत आध्यात्मिक जीवन के यम-नियम भूलते गये, यहाँ तक कि धीरे-धीरे भगवान् की आराधना भी भूल गये। कुछ दिनों के बाद वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में सब कुछ भूल गये।

तात्पर्य : इससे हम यह समझ सकते हैं कि हमें अपने कर्तव्यों के प्रति कितना सतर्क रहना चाहिए और यम-नियमों का पालन करते हुए नियमित रूप से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते रहना चाहिए। यदि हम इसे करने में लापरवाही बरतते हैं, तो अन्त में हमें नीचे गिरना पड़ेगा। हमें चाहिए कि प्रातः उठ कर स्नान करें और मंगल आरती में सम्मिलित हों, अर्चा-विग्रहों की आराधना करें, “हरे कृष्ण मंत्र” का जप करें, वैदिक साहित्य का अध्ययन करें और आचार्यों तथा गुरुओं के द्वारा बताये गये यम-नियमों का पालन करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो चाहे हम जितने उच्च पद पर क्यों न आसीन हों नीचे आ गिरेंगे। *भगवद्गीता* (१८.५) में कहा गया है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

“यज्ञ, तप और दान रूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए वरन् इन्हें अवश्य करते रहना चाहिए। वस्तुतः यज्ञ, दान और तप महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।” यहाँ तक कि संन्यासी को भी इन विधि-विधानों का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे अर्चाविग्रह की आराधना करनी चाहिए और समय तथा जीवन को श्रीकृष्ण की सेवा में लगाना चाहिए। उसे तप भी करते रहना चाहिए। इन सबका त्याग नहीं हो सकता। मनुष्य को यह समझकर कि उसने संन्यास धारण कर लिया है अपने को सिद्ध नहीं मान लेना चाहिए। अपनी आध्यात्मिक-उन्नति के लिए भरत महाराज के कार्य-कलापों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्भ्यः परिवर्जितः शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृजातीन्यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरणयोपेक्षादोषविदुषा. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अहो बत—ओह; अयम्—यह; हरिण-कुणकः—मृग शावक; कृपणः—असहाय; ईश्वर-रथ-चरण-परिभ्रमण-रयेण—भगवान् के काल-चक्र के वेग से; स्व-गण—अपने झुंड; सुहृत्—तथा मित्रों; बन्धुभ्यः—स्वजनों से; परिवर्जितः—वियुक्त; शरणम्—शरण; च—तथा; मा—मेरी; उपसादितः—प्राप्त करके; माम्—मुझको; एव—ही; माता-पितरौ—माता-पिता; भ्रातृ-ज्ञातीन्—बन्धुओं तथा सम्बन्धियों; यौधिकान्—झुंड से सम्बद्ध; च—भी; एव—निश्चय ही; उपेयाय—भूलकर, बिछुड़ कर; न—नहीं; अन्यम्—अन्य कोई; कञ्चन—कोई व्यक्ति; वेद—यह जानता है; मयि—मुझमें; अति—अत्यधिक; विस्त्रब्धः—श्रद्धा रखने वाला; च—तथा; अतः एव—इसलिए; मया—मेरे द्वारा; मत्-परायणस्य—इस प्रकार मेरे आश्रित का; पोषण-पालन-प्रीणन-लालनम्—पोषण, पालन, संतुष्ट करना तथा दुलारना; अनसूया—अनसूया (द्वेष) रहित मैं; अनुष्ठेयम्—किया जाने वाला; शरण्य—शरणागत; उपेक्षा—उपेक्षा; दोष-विदुषा—जो दोष जानता है।

महान् राजा भरत सोचने लगे—अहो! बेचारा यह मृगशावक भगवान् के प्रतिनिधि काल-चक्र के वेग से अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से विलग हो गया है और मेरी शरण में आया है। यह अन्य किसी को न जानकर केवल मुझे अपना पिता, माता, भाई तथा स्वजन मानने लगा है। मेरे ही ऊपर इसकी निष्ठा है। यह मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता, अतः मुझे ईर्ष्यावश यह नहीं सोचना चाहिए कि इस मृग के कारण मेरा अकल्याण होगा। मेरा कर्तव्य है कि मैं इसका लालन, पालन, रक्षण करूँ तथा इसे दुलारूँ-पुचकारूँ। जब इसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, तो भला इसे मैं कैसे दुत्कारूँ? यद्यपि इस मृग से मेरे आध्यात्मिक जीवन में व्यतिक्रम हो रहा है, किन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि इस प्रकार से कोई असहाय व्यक्ति यदि शरणागत हो तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब तो यह बड़ा भारी दोष होगा।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति कृष्णभावानामृत में अत्यधिक उठ जाता है, तो संसार के समस्त दुखी प्राणियों के प्रति वह सहज ही दयालु हो उठता है। वह सामान्य मनुष्यों के कष्टों को ही ध्यान में रखता है, किन्तु यदि कोई पतित जीवों के कष्टों को नहीं जानता और शारीरिक सुख देने के उद्देश्य से दयालु हो उठता है जैसाकि भरत महाराज ने किया, तो ऐसी दया या ममता उसके स्वयं के पतन का कारण बनती है। यदि वास्तव में पतित तथा दुखी मानवता के प्रति दयाभाव है, तो मनुष्य को चाहिए कि उन्हें आध्यात्मिक चेतना (भावना) तक ऊपर उठाये। जहाँ तक मृग की बात है भरत महाराज अत्यन्त दयालु हो गये, किन्तु वे यह भूल गये कि इस मृग को आध्यात्मिक भावना तक ऊपर उठाना दुष्कर है क्योंकि आखिर मृग पशु ही ठहरा। मात्र पशु की रखवाली के लिए अपने विधि-विधानों का परित्याग महाराज भरत के लिए घातक सिद्ध हुआ। *भगवद्गीता* में प्रतिपाद्य नियमों का पालन होना चाहिए। *यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।* जहाँ तक इस भौतिक देह का प्रश्न है कोई किसी के

लिए कुछ नहीं कर सकता। किन्तु श्रीकृष्ण के अनुग्रह से हम स्वयं विधि-विधानों का पालन करते रहें तो किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक भावना प्रदान कर सकते हैं। किन्तु यदि हम अपनी आध्यात्मिक वृत्तियों को त्याग कर दूसरे के शारीरिक सुखों के प्रति चिन्तित रहें तो हम स्वयं संकटपूर्ण स्थिति को प्राप्त होंगे।

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; हि—निश्चय ही; आर्याः—परम सभ्य; साधवः—साधुजन; उपशम-शीलाः—संन्यास लेने पर भी; कृपण-सुहृदः—असहायों के मित्र; एवं-विध-अर्थे—ऐसे नियमों का पालन करने के लिए; स्व-अर्थान् अपि—अपने स्वार्थों तक का; गुरु-तरान्—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; उपेक्षन्ते—उपेक्षा करते हैं।

भले ही कोई संन्यास ले चुका हो, किन्तु जो महान् है, वह निश्चित रूप से दुखी जीवात्मा के प्रति दया का अनुभव करता है। मनुष्य को चाहिए कि शरणागत की रक्षा के हेतु अपने बड़े से बड़े स्वार्थ की परवाह न करे।

तात्पर्य : माया अत्यन्त प्रबल है। परोपकार, साम्यवाद तथा परमार्थ के वशीभूत होकर विश्व में दुखी मानवता के प्रति लोग दया का अनुभव करते हैं। परोपकारी यह नहीं सोच पाते कि मनुष्यों की भौतिक स्थितियों को सुधार पाना असम्भव है। भौतिक स्थितियाँ तो अपने कर्म के अनुसार उच्च शासन (दैव) द्वारा पहले से नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। दुखी प्राणियों को हम इतना ही लाभ पहुँचा सकते हैं कि उनमें आध्यात्मिक चेतना जगा दें। भौतिक सुपास बढ़ाये घटाये नहीं जा सकते। इसीलिए श्रीमद्भागवत (१.५.१८) में कहा गया है—*तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखम्*—“जहाँ तक भौतिक सुख का प्रश्न है, वह बिना प्रयास प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि दुख बिना प्रयास के आते हैं।” भौतिक सुख तथा कष्ट बिना प्रयास के ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कर्म की परवाह न करे। यदि कोई किसी के प्रति दयालु है या किसी की भलाई कर सकता है, तो उसे चाहिए कि उस व्यक्ति को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाए। इस प्रकार भगवत् कृपा से प्रत्येक प्राणी ऊपर उठेगा। भरत महाराज ने हमें उपदेश देने के लिए ऐसा ही किया। किन्तु हमें कभी भी तथाकथित शारीरिक कल्याणकारी कार्यकलापों में बहना नहीं चाहिए। हमें किसी भी मूल्य पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने में अरुचि नहीं दिखानी चाहिए। सामान्य रूप से लोग या तो इसे जानते नहीं या

फिर वे भूल जाते हैं। फलस्वरूप वे अपने मूल उद्देश्य विष्णु के अनुग्रह की प्राप्ति को भूल कर शारीरिक सुविधा दिलाने के लिए परोपकारी कार्यों में लग जाते हैं।

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; कृत-अनुषङ्गः—आसक्ति बढ़ने से; आसन—बैठना; शयन—सोना (नींद); अटन—टहलना; स्नान—नहाना; आशन-आदिषु—खाने आदि में; सह मृग-जहुना—मृगछौने के साथ-साथ; स्नेह-अनुबद्ध—स्नेह से बँधा हुआ; हृदयः—हृदय वाला; आसीत्—हो गया।

मृग के प्रति आसक्ति बढ़ जाने से महाराज भरत उसी मृग के साथ लेटते, टहलते, स्नान करते, यहाँ तक कि उसी के साथ खाना भी खाते। इस प्रकार उनका हृदय मृग के स्नेह में बँध गया।

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुश—अनुष्ठानों में प्रयुक्त एक प्रकार की घास, कुश; कुसुम—फूल; समित्—समिधा, जलाने की लकड़ी; पलाश—पत्ते; फल-मूल—फल तथा कन्द; उदकानि—(तथा) जल; आहरिष्यमाणः—एकत्र करने की इच्छा होने पर; वृकसाला-वृक—भेड़ियों तथा कुत्तों से; आदिभ्यः—तथा अन्य पशु यथा बाघ आदि से; भयम्—भय, डर; आशंसमानः—आशंकित; यदा—जब; सह—साथ; हरिण-कुणकेन—मृग-छौना के; वनम्—जंगल में; समाविशति—प्रवेश करता है।

जब महाराज भरत को कुश, फूल, लकड़ी, पत्ते, फल, कन्द तथा जल लाने के लिए जंगल में जाना होता तो उन्हें भय बना रहता कि कुत्ते, सियार, बाघ तथा अन्य हिंस्र पशु आकर मृग को मार न डालें। अतः वे जंगल में जाते समय उसे अपने साथ-ले जाते।

तात्पर्य : यहाँ पर यह बताया गया है कि महाराज भरत ने मृग के प्रति अपने स्नेह को किस प्रकार बढ़ा लिया था। भरत महाराज जैसे महान् पुरुष को, जिन्हें भगवान् का स्नेह प्राप्त था, एक पशु से स्नेह के कारण अपने पद से नीचे आना पड़ा। फलतः जैसाकि हम आगे देखेंगे, उन्हें अगले जन्म में मृग का शरीर अपनाना पड़ा। जब महाराज भरत का यह हाल हुआ तो भला जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़े हुए नहीं हैं, किन्तु बिल्लियों तथा कुत्तों में आसक्त हैं उनका क्या होगा? जब ऐसे लोग भगवान् के प्रति अपने स्नेह तथा प्यार को बढ़ाते नहीं, तब तक कुत्तों तथा बिल्लियों के प्रति स्नेह के कारण उन्हें अगले जन्म में वैसे ही शरीर धारण करने पड़ेंगे। जब तक हम परमेश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा नहीं

बढ़ाते, तब तक हम अनेक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते रहेंगे भौतिक बन्धन का यही कारण है।

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्धति एवमुत्सङ्ग असि
चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पथिषु—वन मार्ग में; च—भी; मुग्ध-भावेन—मृग के बचकाने आचरण से; तत्र तत्र—वहाँ वहाँ; विषक्त-मति—अत्यधिक आकृष्ट मन वाला; प्रणय—प्रेम से; भर—पूरित; हृदयः—जिसका हृदय; कार्पण्यात्—स्नेह तथा प्रेम के कारण; स्कन्धेन—कंधे से; उद्धति—ले जाता है; एवम्—इस प्रकार; उत्सङ्गे—कभी-कभी गोद में; असि—सोते समय वक्षस्थल के ऊपर; च—भी; आधाय—ले कर; उपलालयन्—दुलारते हुए; मुदम्—सुख; परमाम्—अत्यधिक; अवाप—अनुभव किया।

जंगल के मार्ग में वह मृग अपने चपल स्वभाव के कारण महाराज भरत को अत्यन्त आकर्षक लगता। महाराज भरत उसे अपने कंधों में भी चढ़ा कर स्नेहवश दूर तक ले जाते। उनका हृदय मृग-प्रेम से इतना पूरित था कि वे कभी उसे अपनी गोद में ले लेते, तो कभी सोते समय उसे अपनी छाती पर चढ़ाए रखते। इस प्रकार उस पशु को दुलारते हुए उन्हें अत्यधिक सुख का अनुभव होता था।

तात्पर्य : वन में जाकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के उद्देश्य से महाराज भरत ने अपना घर, पत्नी, सन्तान, राज्य तथा अन्य सभी कुछ छोड़ दिया था, किन्तु एक तुच्छ पालतू मृग के स्नेह-पाश में बँध कर वे पुनः भौतिक आसक्ति के शिकार बन गये। तो भला उन्हें परिवार-त्याग से क्या लाभ हुआ? जो व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना चाहता है उसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र आसक्त होने से सावधान रहना चाहिए। कभी-कभी मात्र उपदेश देने के लिए हमें अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ये सब कार्य श्रीकृष्ण के निमित्त हैं। यदि हम इसे स्मरण रखेंगे तो फिर हम भौतिक कर्मों के शिकार नहीं बनेंगे।

क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदै नमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन
मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्रियायाम्—ईश्वर की पूजा करने या नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ करने में; निर्वर्त्यमानायाम्—बिना समाप्त किये ही; अन्तराले—बीच-बीच में; अपि—यद्यपि; उत्थाय उत्थाय—उठ उठ कर; यदा—जब; एनम्—मृगछोना को; अभिचक्षीत—देख लिया करते; तर्हि वाव—उस समय; सः—वह; वर्ष-पतिः—महाराज भरत; प्रकृति-स्थेन—प्रसन्न; मनसा—अपने मन में; तस्मै—उसको; आशिषः आशास्ते—आशीर्वाद देते; स्वस्ति—कल्याण; स्तात्—हो; वत्स—हे मेरे मृग-शावक; ते—तुम्हारा; सर्वतः—सभी प्रकार से; इति—इस प्रकार।

जब महाराज भरत ईश्वर की आराधना में या अन्य अनुष्ठान में व्यस्त रहते तो अनुष्ठानों को समाप्त किए बिना बीच-बीच में ही वे उठ उठ जाते और देखने लगते कि मृग कहाँ है। इस प्रकार जब वे यह देख लेते कि वह मृग सुखपूर्वक है, तब कहीं उनके मन तथा हृदय को सन्तोष होता और तब वे उस मृग को यह कह कर आशीष देते, “हे वत्स, तुम सभी प्रकार से सुखी रहो।”

तात्पर्य : मृग के लिए अत्यधिक आकर्षण होने के कारण महाराज भरत न तो ईश्वर में ठीक से ध्यान लगा पाते, न अपने नैतिक अनुष्ठान ही पूरा कर पाते थे। यद्यपि वे अर्चाविग्रह की पूजा करते होते थे, किन्तु अत्यधिक स्नेह के कारण उनका चित्त अशान्त रहता। जब वे ध्यान के लिए बैठते तो केवल मृग ही उन्हें सूझता और उनको यह भय लगा रहता कि वह कहाँ चला गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी का मन पूजा में नहीं लगता तो पूजा का दिखावा करने से कोई लाभ नहीं होता। मृग को देखने के लिए भरत महाराज को बीच-बीच में उठना पड़ता था, जो इस तथ्य का सूचक है कि वे आध्यात्मिक पद से नीचे आ चुके थे।

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण

हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन्किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्यदा—कभी कभी (मृग छौने को न देखकर); भृशम्—अत्यधिक; उद्विग्न-मना:—चिन्ताओं से युक्त मन; नष्ट-द्रविणः—जिसका धन लुट गया हो; इव—सदृश; कृपणः—कंजूस व्यक्ति; स-करुणम्—करुणापूर्वक; अति-तर्षेण—अत्यन्त चिन्ता से; हरिण-कुणक—मृग छौने के; विरह—वियोग से; विह्वल—व्याकुल; हृदय—मन या हृदय में; सन्तापः—शोक; तम्—उन छौने को; एव—केवल; अनुशोचन्—निरन्तर ध्यान करते; किल—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह; महत्—अत्यधिक; अभिरम्भितः—प्राप्त किया; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।

कभी कभी भरत महाराज यदि उस मृग को न देखते तो उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठता। उनकी स्थिति उस कंजूस व्यक्ति के समान हो जाती जिसे कुछ धन प्राप्त हुआ हो, किन्तु उसके खो जाने से वह अत्यन्त दुखी हो गया हो। जब मृग चला जाता, तो उन्हें चिन्ता हो जाती और वियोग के कारण वे विलाप करने लगते। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर वे निम्नलिखित प्रकार से कहते।

तात्पर्य : यदि किसी निर्धन व्यक्ति का कुछ धन या सोना खो जाता है, तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो

जाता है। इसी प्रकार महाराज भरत का मन मृग को न देखने पर उद्विग्न हो उठता। यह उदाहरण बताता है कि किस प्रकार हमारी आसक्ति बदल सकती है। यदि हमारी आसक्ति ईश्वर की सेवा में लग जाये तो हम प्रगति करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने ईश्वर से प्रार्थना की कि मैं भगवान् की सेवा के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट होऊँ जिस प्रकार तरुण तथा तरुणियाँ परस्पर आकृष्ट होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने समुद्र में कूदकर या रात्रि भर वियोगवश रो-रो कर ईश्वर के प्रति ऐसी आसक्ति प्रदर्शित की। किन्तु यदि हमारी आसक्ति ईश्वर से मुड़कर भौतिक पदार्थों के प्रति हो जाये तो हम आध्यात्मिक पद से नीचे गिर जाएँगे।

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य
कृतविस्त्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन्सुजन इवागमिष्यति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निस्सन्देह; बत—अहो; सः—वह छौना; वै—निश्चय ही; कृपणः—दीन; एण-बालकः—मृगशावक; मृत-हरिणी-सुतः—मृत हरिणी का बच्चा; अहो—ओह; मम—मेरा; अनार्यस्य—अनार्य का, असभ्य आदिवासी; शठ—धोखेबाज का; किरात—अथवा असभ्य आदिवासी का; मतेः—मन वाले; अकृत-सुकृतस्य—पुण्यहीन; कृत-विस्त्रम्भः—विश्वास करते हुए; आत्म-प्रत्ययेन—मुझे अपने ही समान समझते हुए; तत् अविगणयन्—इन सब बातों को सोचे बिना; सु-जनः इव—भद्र पुरुष की भाँति; अगमिष्यति—क्या वह फिर से लौटेगा ?

भरत महाराज सोचते—ओह! यह मृग अब असहाय है। मैं अत्यन्त अभागा हूँ और मेरा मन चतुर शिकारी की भाँति है क्योंकि यह सदैव छल तथा निष्ठुरता से पूर्ण रहता है। इस मृग ने मुझ पर उसी प्रकार विश्वास किया है, जिस प्रकार एक भद्र पुरुष धूर्त मित्र के दुराचार को भूलकर उस पर विश्वास प्रकट करता है। यद्यपि मैं अविश्वासी सिद्ध हो चुका हूँ, किन्तु क्या यह मृग मुझ पर विश्वास करके पुनः लौट आएगा ?

तात्पर्य : भरत महाराज अत्यन्त नेक और महान् थे, अतः जब मृग उनसे दूर रहता तो वे शरणागत की रक्षा करने में स्वयं को अयोग्य समझने लगते। पशु के प्रति आसक्ति के कारण वे सोचते कि यह पशु भी उन्हीं के समान नेक तथा महान् है। *आत्मवत् मन्यते जगत्*—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि अन्य प्राणियों को अपने समान समझे। अतः महाराज भरत को ऐसा लगा कि उस मृग ने उनकी उपेक्षा के कारण उनका साथ छोड़ा है और अपने नेक हृदय के कारण वह पुनः लौट आएगा।

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपि—हो सकता है कि; क्षेमण—हिंस्र पशुओं के अभाव के कारण निर्भय होने से; अस्मिन्—इस; आश्रम-उपवने—आश्रम के उद्यान में; शष्पाणि चरन्तम्—मुलायम घास चरते हुए; देव-गुप्तम्—देवताओं द्वारा रक्षित; द्रक्ष्यामि—क्या मैं देखूँगा?

ओह! क्या ऐसा हो सकता है कि मैं इस पशु को देवताओं से रक्षित तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय रूप में फिर देखूँ? क्या मैं उसे पुनः उद्यान में मुलायम घास चरते हुए देख सकूँगा?

तात्पर्य : महाराज भरत ने सोचा कि मृग उनके संरक्षण से निराश होकर उन्हें छोड़कर किसी देवता की शरण में चला गया है। फिर भी वे उस पशु को मुलायम घास चरते हुए तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय होकर अपने आश्रम में देखने के अत्यधिक इच्छुक थे। उन्हें केवल मृग का ध्यान रहता था तथा सभी प्रकार के पशुओं से उसकी रक्षा करने की चिन्ता रहती थी। भौतिक दृष्टि से ऐसे विचार अत्यन्त प्रशंसनीय कहे जायँगे, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से राजा अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर रहे थे और वृथा ही एक पशु पर इतने आसक्त होते जा रहे थे। अपने को इस प्रकार पतित बना देने पर उन्हें पशु-शरीर ग्रहण करना पड़ा।

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अपि च—अथवा; न—नहीं; वृकः—भेड़िया; साला-वृकः—कुत्ता; अन्यतमः—अनेक में से कोई एक; वा—अथवा; न-एक-चरः—झुंड के झुंड विचरने वाले शूकर; एक-चरः—अकेला घूमने वाला व्याघ्र; वा—अथवा; भक्षयति—(बेचारे पशु को) खा रहा है।

मुझे पता नहीं, किन्तु हो सकता है कि भेड़िये या कुत्ते अथवा झुंडों में रहने वाले सुअर या फिर अकेले घूमने वाले बाघ ने उस मृग को खा लिया हो।

तात्पर्य : बाघ कभी भी जंगल में झुंड में नहीं घूमते। प्रत्येक बाघ अकेला घूमता है, किन्तु जंगली सुअर एकसाथ रहते हैं। इसी प्रकार भेड़िये, कुत्ते आदि भी एकसाथ रहते हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने सोचा कि हो न हो बेचारा हिरन इनमें से किसी हिंस्र पशु द्वारा मार डाला गया होगा।

निम्लोचति ह भगवान्सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निम्लोचति—डूब रहा है; ह—ओह; भगवान्—सूर्य के रूप में भगवान्; सकल-जगत्—समस्त ब्रह्माण्ड का; क्षेम-उदयः—कल्याण करने वाला; त्रयी-आत्मा—तीन वेदों से युक्त; अद्य अपि—अब भी; मम—मेरा; न—नहीं; मृग-वधू-न्यासः—मृगी की धरोहर; आगच्छति—वापस आया है।

ओह! सूर्य के उदय होते ही सभी शुभ कार्य होने लगते हैं। दुर्भाग्यवश, मेरे लिए ऐसा नहीं

हो रहा है। सूर्यदेव साक्षात् वेद हैं, किन्तु मैं समस्त वैदिक नियमों से शून्य हूँ। वे सूर्यदेव अब अस्त हो रहे हैं, तो भी वह बेचारा पशु, जिसने अपनी माता की मृत्यु होने पर मुझपर विश्वास किया था, अभी तक नहीं लौटा है।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.५२) में सूर्य को भगवान् का नेत्र कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः ।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सूर्योदय होते ही मनुष्य को गायत्री मंत्र से आरम्भ करके वैदिक मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। सूर्य परमेश्वर के नेत्रों का प्रतीक है। महाराज भरत को पश्चात्ताप हो रहा था कि यद्यपि सूर्य अस्त होने को है, किन्तु बेचारे मृग की अनुपस्थिति के कारण उन्हें कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था। इसलिए भरत महाराज ने अपने को सर्वाधिक अभागा माना, क्योंकि सूर्य की उपस्थिति में उनके लिए कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था।

अपि स्विकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो
विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—क्या वह करेगा; अकृत-सुकृतम्—जिसने कभी कोई पुण्य कार्य नहीं किया; आगत्य—वापस आकर; माम्—मुझको; सुखयिष्यति—आनन्दित करेगा; हरिण-राज-कुमारः—हिरण, जिसका पालन राजकुमार के समान हुआ; विविध—अनेक; रुचिर—मनोहर; दर्शनीय—देखने योग्य; निज—अपना; मृग-दारक—मृगशावक के उपयुक्त; विनोदैः—क्रीड़ाओं से; असन्तोषम्—असन्तोष; स्वानाम्—स्वजनों का; अपनुदन्—दूर करते हुए।

वह मृग राजकुमार के तुल्य है। वह कब लौटेगा? वह कब फिर अपनी मनोहर क्रीड़ाएँ दिखायेगा? वह कब मेरे आहत-हृदय को पुनः शान्त करेगा? अवश्य ही मेरे पुण्य शेष नहीं हैं, अन्यथा अब तक वह मृग अवश्य लौट आया होता।

तात्पर्य : अपने प्रबल स्नेह के कारण राजा छोटे से हिरण को राजकुमार मान बैठा। यह मोह कहलाता है। मृग की अनुपस्थिति के कारण चिन्तावश राजा ने पशु को इस प्रकार सम्बोधित किया मानो वह उसका पुत्र हो। स्नेह के वशीभूत होने पर किसी को कुछ भी कह कर पुकारा जा सकता है।

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनामीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

क्ष्वेलिकायाम्—खेल में; माम्—मुझको; मृषा—झूठ मूठ; समाधिना—समाधि से; आमीलित-दृशम्—बन्द आँखों से; प्रेम-संरम्भेण—प्रेम के कारण उत्पन्न क्रोध से; चकित-चकितः—डर से; आगत्य—आकर; पृषत्—जल बिन्दुओं के समान; अपरुष—अत्यन्त नम्र; विषाण—सींगों के; अग्रेण—अग्रभाग से, नोक से; लुठति—मेरा शरीर छूता है।

ओह! जब यह छोटा-सा हिरण, मेरे साथ खेलते हुए और मुझे आँखें बन्द करके झूठ-मूठ ध्यान करते देख कर, प्रेम से उत्पन्न क्रोध के कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और डरते हुए अपने मुलायम सींगों की नोकों से मुझे छूता, जो मुझे जल बिन्दुओं के समान प्रतीत होते।

तात्पर्य : अब महाराज भरत को अपना ध्यान झूठा लगा। ध्यान करते समय वे वास्तव में मृग के विषय में सोचते रहते और जब वह आकर अपने पैने सींगों से कुरेदता तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता होती। ध्यान का बहाना करते हुए राजा वास्तव में इसी मृग के विषय में सोचते रहते और यही उनके पतन का संकेत था।

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आसादित—रख देता; हविषि—यज्ञ की सामग्री, हवि; बर्हिषि—कुश के ऊपर; दूषिते—अपवित्र होने पर; मया उपालब्धः—मेरे द्वारा डाँटे जाने पर; भीत-भीतः—अत्यन्त डर से; सपदि—शीघ्र, तुरन्त; उपरत-रासः—अपना खेल बन्द करता हुआ; ऋषि-कुमारवत्—ऋषि के पुत्र या शिष्य के समान; अवहित—पूर्णतया रोका जाकर; करण-कलापः—समस्त इन्द्रियाँ; आस्ते—बैठ जाता।

जब मैं यज्ञ की समस्त सामग्री को कुश पर रखता तो यह मृग खेल-खेल में कुश को अपने दाँतों से छूकर अपवित्र कर देता। जब मैं मृग को दूर हटा कर डाँटता-डपटता तो वह तुरन्त डर जाता और बिना हिले डुले बैठ जाता मानो ऋषि का पुत्र हो। तब वह अपना खेल (क्रीड़ा) बन्द कर देता।

तात्पर्य : महाराज भरत मृग के क्रिया-कलापों का निरन्तर चिन्तन करते रहे और यह भूल गये कि ऐसे ध्यान से तथा चित्त के हटने से उनकी आध्यात्मिक उन्नति नष्ट हो रही है।

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः

सविनयकृष्णासारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम
द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति ॥

२३ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—क्या; अरे—ओह; आचरितम्—साधते हुए; तपः—तपस्या; तपस्विन्या—अत्यन्त भाग्यशाली के द्वारा; अनया—इस भूलोक पर; यत्—चूँकि; इयम्—यह; अवनिः—पृथ्वी; स-विनय—विनयपूर्वक; कृष्ण-सार-तनय—कृष्ण-मृग के शावक का; तनुतर—छोटे-छोटे; सुभग—सुन्दर; शिव-तम—अत्यन्त मंगलकारी; अखर—मुलायम; खुर—खुरों के; पद-पङ्क्तिभिः—पदचिह्नों की पंक्तियों से; द्रविण-विधुर-आतुरस्य—धन की हानि से अत्यन्त दुखी व्यक्ति का; कृपणस्य—अत्यन्त दुखी प्राणी का; मम—मेरे लिए; द्रविण-पदवीम्—उस धन को प्राप्त करने का मार्ग; सूचयन्ति—सूचित करते हुए; आत्मानम्—अपना शरीर; च—तथा; सर्वतः—चारों दिशाओं में; कृत-कौतुकम्—अलंकृत; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का; स्वर्ग-अपवर्ग-कामानाम्—स्वर्ग या मुक्ति की आकांक्षा करने वाले; देव-यजनम्—देवताओं के लिए किया जाने वाला यज्ञ-स्थल; करोति—करता है।

इस प्रकार एक पागल की भाँति बोलते हुए महाराज भरत उठे और बाहर निकल गए। धरती पर मृग के पदचिह्नों को देखकर उनकी प्रशंसा में अत्यन्त प्रेम से कहा, “अरे अभागे भरत! इस पृथ्वी के तप की तुलना में तुम्हारे तप तुच्छ हैं, क्योंकि पृथ्वी की कठोर तपस्या से ही उस पर इस मृग के छोटे-छोटे, सुन्दर अत्यन्त कल्याणकारी तथा मुलायम पदचिह्न बने हुए हैं। पदचिह्नों की यह श्रेणी मृग-विछोह से दुखी मुझ जैसे व्यक्ति को दिखा रही है कि वह पशु इस जंगल से होकर किस प्रकार आगे गया है और मैं उस खोई हुई सम्पत्ति को किस तरह पुनः प्राप्त कर सकता हूँ। इन पदचिह्नों के कारण यह भूमि स्वर्ग या मुक्ति की इच्छा से देवताओं के हेतु यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के लिए उत्तम स्थान बन गई है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब कोई पुरुष प्रेम-व्यापार में अत्यधिक फँस जाता है, तो वह स्वयं को तथा दूसरों को तो भूलता है ही, वह कर्म करना और बात करना तक भूलने लगता है। ऐसी किम्वदन्ती है कि एक मनुष्य के जन्मान्ध पुत्र हुआ, किन्तु पिता ने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण उसका नाम पद्मलोचन रख दिया। अन्ध-प्रेम की ऐसी की दशा है। भरत महाराज मृग के भौतिक प्रेम में फँस कर धीरे-धीरे ऐसी ही दशा को प्राप्त हुए। स्मृति-शास्त्र का वचन है—*यस्मिन् देशे मृगः कृष्णास्तस्मिन् धर्मान्निवोधत*—“जिस भूभाग में श्याम मृग के पदचिह्न दिखें उसे धार्मिक कृत्यों के लिए उपयुक्त स्थान समझना चाहिए।”

अपि स्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया
कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—कहीं ऐसा तो नहीं है; असौ—वह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; उडु-पति:—चन्द्रमा; एनम्—इस; मृग-पति-भयात्—सिंह के भय से; मृत-मातरम्—मातृविहीन; मृग-बालकम्—मृग शावक की; स्व-आश्रम-परिभ्रष्टम्—अपने आश्रम से बिछुड़ कर; अनुकम्पया—दयावश; कृपण-जन-वत्सलः—(चन्द्रमा) जो दुखी प्राणियों पर अत्यन्त सदय है; परिपाति—सुरक्षा कर रहा है।

भरत महाराज उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। अपने सिर के ऊपर उदित चन्द्रमा में मृग के सदृश काले धब्बों को देखकर उन्होंने कहा—कहीं दुखी मनुष्य पर दया करने वाले इस चन्द्रमा ने यह जानते हुए कि मेरा मृग अपने घर से बिछुड़ गया है और मातृविहीन हो गया है, उस पर भी दया की हो? इस चन्द्रमा ने सिंह के अचानक आक्रमण से बचाने के लिए ही मृग को अपने निकट शरण दे दी हो।

किं वात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं
शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च. ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा ऐसा हो कि; आत्म-ज—पुत्र से; विश्लेष—वियोग के कारण; ज्वर—ताप; दव-दहन—दावाग्नि की; शिखाभिः—लपटों से; उपतप्यमान—ज्वलित; हृदय—हृदय; स्थल-नलिनीकम्—लाल कमल पुष्प के सदृश; माम्—मुझे; उपसृत-मृगी-तनयम्—जिससे मृगछौना अत्यन्त हिला-मिला हुआ था; शिशिर-शान्त—अत्यन्त शीतल एवं शान्त; अनुराग—प्रेमवश; गुणित—प्रवहमान; निज-वदन-सलिल—अपने मुख का जल; अमृत-मय—अमृत के सदृश उत्तम; गभस्तिभिः—चन्द्रमा की किरणों से; स्वधयति—मुझे आनन्द दे रहा है; इति—इस प्रकार; च—तथा।

चाँदनी को देखकर महाराज भरत उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। उन्होंने कहा—यह मृगछौना इतना विनम्र घुलमिल गया था और मुझे इतना प्रिय था कि इसके वियोग से मुझे अपने पुत्र जैसा वियोग हो रहा है। इसके वियोग-ताप से मुझे दावाग्नि से जल जाने जैसा कष्ट हो रहा है। मेरा हृदय-स्थल कुमुदिनी जैसा जल रहा है। मुझे इतना दुखी देखकर चन्द्रमा मेरे ऊपर चमकते हुए अमृत जैसी वर्षा कर रहा है मानो प्रखर ज्वर से पीड़ित व्यक्ति पर उसका मित्र जल छिड़क रहा हो। इस प्रकार यह चन्द्रमा मुझे सुख देने वाला है।

तात्पर्य : आयुर्वेदिक चिकित्सा के अनुसार जिस व्यक्ति को तेज ज्वर हो उस पर मुख के कुल्ले से जल का छिड़काव करना चाहिए। इससे ज्वर घट जाता है। भरत महाराज अपने पुत्रवत् मृग के वियोग से अत्यन्त दुखी थे, अतः वे सोच रहे थे कि यह चन्द्रमा अपने मुख में जल भर कर उन पर कुल्ले से छिड़क रहा है, जिससे उनका तेज ज्वर शमित हो जाये जो उस मृगछौने के विरह के कारण था।

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदारार्थनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्थकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अघटमान—दुर्लभ; मनः—रथ—इच्छाओं से जो मन के रथ के तुल्य हैं; आकुल—दुखी; हृदयः—जिसका हृदय; मृग-दारक-आभासेन—मृग छौंने के समान; स्व-आरब्ध-कर्मणा—अपने प्रारब्ध के बुरे कर्म-फलों से; योग-आरम्भणतः—योगानुष्ठान से; विभ्रंशितः—च्युत; सः—वह (महाराज भरत); योग-तापसः—योग तथा तपस्या करता हुआ; भगवत्-आराधन-लक्षणात्—श्रीभगवान् की भक्ति सम्बन्धी क्रियाओं से; च—तथा; कथम्—किस प्रकार; इतरथा—अन्य; जाति-अन्तरे—अन्य जातियोनि वाले; एण-कुणके—मृग छौंने के शरीर के प्रति; आसङ्गः—अत्यधिक आसक्ति; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निःश्रेयस—चरम जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए; प्रतिपक्षतया—प्रतिरोध; प्राक्—पहले; परित्यक्त—छोड़ा हुआ; दुस्त्यज—यद्यपि त्याग करने में अत्यन्त कठिन; हृदय-अभिजातस्य—अपने हृदय से उत्पन्न अपने पुत्रों; तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; अन्तराय—उस प्रतिरोध (विघ्न) से; विहत—रोका जाकर; योग-आरम्भणस्य—जिसकी योग-साधना का पथ; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—महाराज भरत का; तावत्—तब तक; मृग-अर्थक—मृगछौंना; पोषण—भरण में (दूध पिलाने में); पालन—सुरक्षा में; प्रीणन—प्रसन्न रखने में; लालन—दुलारने में; अनुषङ्गेण—निरन्तर ध्यान करते रहने से; अविगणयतः—उपेक्षा करते हुए; आत्मानम्—अपनी आत्मा की; अहिः इव—सर्प के तुल्य; आखु-बिलम्—चूहे का बिल; दुरतिक्रमः—दुर्लभ; कालः—मृत्यु; कराल—भयानक; रभसः—गतिमान; आपद्यत—आ गया।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, इस प्रकार महाराज भरत दुर्दमनीय आकांक्षा से अभिभूत हो गये जो मृग के रूप में प्रकट हुई। अपने पूर्वकर्मों के फल के कारण वे योग, तप तथा भगवान् की आराधना से च्युत हो गये। यदि यह पूर्वकर्मों के कारण नहीं हुआ तो वे क्योंकर अपने पुत्र तथा परिवार को अपने आध्यात्मिक जीवन के पथ पर अवरोध समझ कर त्याग देने के बाद भी मृग से इतना आकृष्ट होते? वे मृग के लिए इतना दुर्दम्य स्नेह क्यों प्रकट करते? यह निश्चय ही उनके पूर्वकर्म का फल था। राजा मृग को सहलाने तथा उसके लालन-पालन में इतने व्यस्त रहते कि वे अपने आध्यात्मिक वृत्तियों से नीचे गिर गये। कालान्तर में, दुर्लभ मृत्यु उनके समक्ष उपस्थित हो गई जिस प्रकार कोई विषधर सर्प चूहे के द्वारा निर्मित छिद्र में चुपके से घुस जाता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में देखने में आएगा कि मृत्यु के समय महाराज भरत को मृग से आकर्षण के कारण बाध्य होकर मृग का शरीर धारण करना पड़ा। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि भक्त के पूर्व-दुष्कर्मों तथा पापों का उस पर किस प्रकार प्रभाव पड़ सकता है? *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—“जो भक्ति-भजन में लगे रहते हैं उनके पूर्वकर्मों के फल की क्षतिपूर्ति हो जाती है।” इसके अनुसार भरत महाराज को उनके पूर्वकर्मों के

लिए दण्डित नहीं किया जा सकता था। इसका निष्कर्ष यह होगा कि वे जानबूझ कर मृग के प्रति अत्यधिक लिप्त हो गये और उन्होंने अपनी उन्नति की उपेक्षा की। उनकी इस त्रुटि को तुरन्त सुधारने के लिए उन्हें अल्प काल के लिए मृग का शरीर प्रदान किया गया। यह उनकी भक्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया गया था। यद्यपि उन्हें पशु शरीर दिया गया, किन्तु वे यह नहीं भूल पाये कि जानबूझ कर की गई उनकी त्रुटि के कारण ही ऐसा हुआ। वे इस मृग शरीर से उद्धार पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिससे सूचित होता है वे भक्ति के प्रति अधिकाधिक स्नेहिल हो उठे थे जिससे अगले जन्म में उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हो सका जिससे वे अपने लक्ष्य में सिद्धि पा सके। इसी दृढ़ विश्वास के साथ ही हम अपनी पत्रिका *बैंक टु गाडहेड* में यह घोषित करते हैं कि वृन्दावन में रहने वाले कुछ गोस्वामी भक्त, जो जानबूझ कर पाप करते हैं, वे उस पवित्र भूमि में कुत्ते, बन्दर तथा कछुवे का शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार वे कुछ काल तक निम्न योनि में रहते हैं और अपना ऐसा पशु-शरीर त्यागने के बाद वे पुनः वैकुण्ठलोक जाते हैं। ऐसा अल्पकालिक दंड विगत कर्मों का फल नहीं होता। भले ही यह विगत कर्म के कारण प्रतीत हो, किन्तु यह दण्ड भक्त को अपनी भूल सुधारने और भक्ति में अग्रसर होने के लिए दिया जाता है।

तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप. ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तदानीम्—उस समय; अपि—निस्संदेह; पार्श्व-वर्तिनम्—अपनी मृत्युशय्या के निकट; आत्म-जम्—अपने पुत्र; इव—सदृश; अनुशोचन्तम्—शोकातुर; अभिवीक्षमाणः—देखते हुए; मृगे—मृग में; एव—निश्चय ही; अभिनवेशित-मनाः—उसका मन उसी में लगा हुआ; विसृज्य—त्याग कर; लोकम्—संसार को; इमम्—इस; सह—साथ; मृगेण—मृग के; कलेवरम्—उसका शरीर; मृतम्—मरा हुआ; अनु—तत्पश्चात्; न—नहीं; मृत—विनष्ट; जन्म-अनुस्मृतिः—मृत्यु के पूर्व की घटना की याद; इतर-वत्—अन्यों की तरह; मृग-शरीरम्—मृग का शरीर; अवाप—प्राप्त किया।

राजा ने देखा कि उनकी मृत्यु के समय वह मृग उनके पास बैठा था मानो उनका पुत्र हो और वह उनकी मृत्यु से शोकातुर था। वास्तव में राजा का चित्त मृग के शरीर में रमा हुआ था, फलतः कृष्णभावनामृत से रहित मनुष्यों की भाँति उन्होंने यह संसार, मृग तथा अपना भौतिक शरीर त्याग दिया और मृग का शरीर प्राप्त किया। किन्तु इससे एक लाभ हुआ। यद्यपि उन्होंने मानव शरीर त्याग कर मृग का शरीर प्राप्त किया था, किन्तु उन्हें अपने पूर्व जीवन की घटनाएँ भूल

नहीं पाई थीं।

तात्पर्य : महाराज भरत द्वारा मृग शरीर ग्रहण करने तथा मृत्यु के समय अन्य व्यक्तियों की मानसिक दशा के अनुसार जो विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं उन्हें ग्रहण करने में अन्तर है। अन्य लोग मृत्यु के बाद भूल जाते हैं कि उनके पूर्व जीवनों में क्या-क्या घटनाएँ हुई थीं, किन्तु महाराज भरत कुछ भी नहीं भूले थे। *भगवद्गीता* के अनुसार (८.६)—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाविताः ॥

“जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह त्यागता है, वह निस्सन्देह उसको ही प्राप्त होता है।”

शरीर त्यागने के बाद मनुष्य की मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है, वह उसी के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त करता है। मृत्यु के समय कोई भी मनुष्य सदैव उसी विषय को सोचता रहता है, जिसमें वह आजीवन उलझा रहता है। इस नियम के अनुसार चूँकि भरत महाराज भगवद्भक्ति भूलकर निरन्तर मृग के चिन्तन में डूबे रहते थे, इसलिए उन्हें मृग का शरीर प्राप्त हुआ। किन्तु भक्ति का चरम स्तर प्राप्त होने के कारण उन्हें पूर्व जीवन की घटनाएँ विस्मृत नहीं हुई थीं। इस विशेष वरदान ने उन्हें आगे की अधोगति से बचा लिया। भक्ति सम्बन्धी पूर्वकर्मों के कारण वे मृग शरीर धारण करके भी अपनी भक्ति को पूरा करने में दृढसंकल्प रहे। इसलिए इस श्लोक में कहा गया है, यद्यपि वे *मृतम्* अर्थात् मर चुके थे, किन्तु *अनु, तत्पश्चात्, न मृत-जन्मानुस्मृतिर् इतरवत्*—वह अन्यो की तरह पूर्वजन्म की घटनाओं को भूले नहीं। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* (५.५४) में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्।* इससे यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीभगवान् के अनुग्रह से भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। जानबूझ कर भक्ति की उपेक्षा के लिए भक्त को कुछ काल के लिए दण्डित किया जा सकता है, किन्तु उसे पुनः भक्ति प्राप्त होती है और वह भगवद्धाम को वापस चला जाता है।

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदारधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस जन्म में; ह वा—निस्संदेह; आत्मनः—स्वयं का; मृगतत्व-कारणम्—मृग शरीर स्वीकार करने का कारण; भगवत्-आराधन-समीहा—भक्ति में पूर्व कर्मों के; अनुभावेन—परिणामस्वरूप; अनुस्मृत्य—स्मरण करके; भृशम्—सर्वदा; अनुतप्य-मानः—पश्चात्ताप करते हुए; आह—कहा।

मृग शरीर प्राप्त करने पर भी भरत महाराज अपने पूर्वजन्म की दृढ़ भक्ति के कारण उस शरीर को धारण करने का कारण जान गये थे। अपने विगत तथा वर्तमान शरीर पर विचार करते हुए वे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह विशेष छूट है। यदि उसे अ-मानव शरीर प्राप्त होता भी है, तो भी श्रीभगवान् के अनुग्रह से उसे अपनी भक्ति को आगे बढ़ाने का अवसर अपने गत जीवन का स्मरण करके या अन्य प्राकृतिक कारणों से प्राप्त होता है। जनसामान्य के लिए गत जीवन के कार्यों को स्मरण रखना कोई सरल काम नहीं, किन्तु भरत महाराज को अपने यज्ञों तथा भक्ति के कारण अपने पूर्वकर्मों की स्मृति बनी रही।

अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कात्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्त्राव ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो कष्टम्—ओह, कितना कष्टमय जीवन है; भ्रष्टः—पतित; अहम्—मैं (हूँ); आत्म-वताम्—सिद्धिप्राप्त महान् भक्तों की; अनुपथात्—जीवन शैली से; यत्—जिससे; विमुक्त-समस्त-सङ्गस्य—यद्यपि अपने सगे पुत्रों तथा घर का साथ त्यागे हुए; विविक्त—एकान्त; पुण्य-अरण्य—पवित्र वन की; शरणस्य—शरण लिए हुए के; आत्म-वतः—दिव्य पद को प्राप्त; आत्मनि—परमात्मा में; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं के; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव में; तत्—उसका; अनुश्रवण—निरन्तर सुनना; मनन—चिन्तन; सङ्कीर्तन—जप; आराधन—पूजा, उपासना; अनुस्मरण—निरन्तर स्मरण करना; अभियोगेन—लीन रह कर; अशून्य—पूरित; सकल-यामेन—जिसमें सारे समय; कालेन—काल से; समावेशितम्—पूर्णतया प्रतिष्ठित; समाहितम्—स्थिर; कात्स्न्येन—पूर्णतया; मनः—चित्त; तत्—वह मन; तु—लेकिन; पुनः—फिर; मम—मुझ; अबुधस्य—अज्ञानी का; आरात्—दूरी से; मृग-सुतम्—मृगछौना; अनु—के पीछे, के वश में; परिसुस्त्राव—च्युत हो गया।

मृग के शरीर में भरत महाराज पश्चात्ताप करने लगे—कैसा दुर्भाग्य है कि मैं स्वरूपसिद्धों के पथ से गिर गया हूँ! आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए मैंने अपने पुत्रों, पत्नी तथा घर का परित्याग किया और वन के एकान्त पवित्र स्थान में आश्रय लिया। मैं आत्मसंयमी तथा स्वरूप-सिद्ध बना और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव की भक्ति, श्रवण, चिन्तन, कीर्तन, पूजन तथा स्मरण में निरन्तर लगा रहा। मैं अपने प्रयत्न में सफल रहा, यहां तक कि मेरा मन सर्वदा भक्ति में डूबा रहता था। किन्तु, अपनी मूर्खता के कारण मेरा मन पुनः आसक्त हो गया—इस बार मृग

में। अब मुझे मृग शरीर प्राप्त हुआ है और मैं अपनी भक्ति-साधना से बहुत नीचे गिर चुका हूँ।

तात्पर्य : अपनी कठोर भक्ति-साधना के कारण महाराज भरत को अपने विगत जन्म के कर्मों का और इसका कि वे किस प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचे थे, स्मरण था। अपनी ही मूर्खता से वे एक साधारण से मृग पर आसक्त होकर च्युत हुए जिससे उन्हें मृग का शरीर धारण करना पड़ा। यह प्रत्येक भक्त के लिए अत्यन्त महत्त्व की बात है। यदि हम अपने पद का दुरुपयोग करते हैं और सोचते हैं कि हम तो भक्ति में पूर्णतया समर्पित हैं, अतः चाहे जैसा भी आचरण करें, तो हमें भरत महाराज की भाँति दुख भोगना पड़ेगा और जिस प्रकार के शरीर से भक्ति को बाधा पहुँचती है, वही शरीर धारण करना पड़ेगा। केवल मनुष्य रूप में भक्ति की जा सकती है, किन्तु यदि हम जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति के कारण भक्ति का परित्याग करते हैं, तो हमें निश्चय ही दण्ड मिलेगा। यह दण्ड सामान्य भौतिकतावादी पुरुष का सा नहीं होता। परमेश्वर भक्त को इस प्रकार दण्डित करते हैं कि श्रीवासुदेव के चरणकमलों के प्रति उसकी उत्सुकता बढ़ती है और इस उत्कट इच्छा के कारण वह अगले जन्म में अपने घर वापस चला जाता है। यहाँ भक्ति का सम्यक वर्णन इस प्रकार किया गया है— *तद्-अनुश्रवण-मनन-संकीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेन। भगवद्गीता* में ईश्वर के यश का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करने की संस्तुति की गई है— *सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।* जिन्होंने कृष्णभावनामृत अंगीकार किया है उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक भी क्षण वृथा न जाने दें और कोई भी क्षण श्रीभगवान् के संकीर्तन- तथा उनके कार्यकलापों के स्मरण के बिना न बीतने पाए। श्रीकृष्ण अपने स्वयं के कार्यों से तथा अपने भक्तों के कार्यों से हमें शिक्षा देते हैं कि भक्ति में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। भरत महाराज के माध्यम से श्रीकृष्ण हमें शिक्षा देते हैं कि हम भक्ति करने में सावधान रहें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन तनिक भी विचलित न हों तो हमें चाहिए कि हम उन्हें पूरे समय भक्ति में लगाये रखें। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्यों का प्रश्न है उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिये सब कुछ त्याग दिया है। तो भी उन्हें भरत महाराज के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए कि उन्हें एक भी क्षण अनर्गल बात, निद्रा या अधिक खाने में नहीं गँवाना है। भोजन करना मना नहीं है, किन्तु अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। इससे इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषा होगी और हमें निम्न योनि में जाना पड़ेगा। इस प्रकार हमारी प्रगति रुक जाएगी, भले ही कुछ काल के लिए क्यों न

हो। अतः सबसे उत्तम मार्ग है कि हम श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश ग्रहण करें— *अव्यर्थ-कालत्वम्*। हमें ध्यान रहे कि हमारा प्रत्येक क्षण भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में न लगे। भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक भक्तों के लिए यह सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं
पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एवम्—इस विधि से; निगूढ—छिपी; निर्वेदः—वैराग्य भावना; विसृज्य—त्याग कर; मृगीम्—मृगी को; मातरम्—अपनी माता; पुनः—फिर; भगवत्-क्षेत्रम्—वह क्षेत्र जहाँ परमेश्वर पूजित हैं; उपशम-शील—सांसारिक आसक्तियों से सर्वथा विरक्त; मुनि-गण-दयितम्—जो मुनियों को अत्यधिक प्रिय है; शालग्रामम्—शालग्राम नामक ग्राम; पुलस्त्य-पुलह-आश्रमम्—पुलस्त्य तथा पुलह जैसे ऋषियों के आश्रम को; कालञ्जरात्—कालंजर पर्वत से, जहाँ उसने मृगी के गर्भ से जन्म लिया था; प्रत्याजगाम—चला आया।

यद्यपि भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु निरन्तर पश्चात्ताप करते रहने से वे सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः विरक्त हो गये थे। उन्होंने ये बातें किसी को प्रकट नहीं होने दीं। उन्होंने अपनी मृगी माता को अपने जन्मस्थान कालंजर पर्वत पर ही छोड़ दिया और स्वयं शालग्राम के बन में पुलस्त्य तथा पुलह के आश्रम में पुनः चले आये।

तात्पर्य : महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वासुदेव के अनुग्रह से महाराज भरत को अपना पूर्व जीवन स्मरण रहा। उन्होंने एक क्षण भी नष्ट नहीं किया। वे पुलह-आश्रम में, उस गांव में, जिसे शालग्राम कहते हैं, लौट आये। संगति अत्यन्त सार्थक होती है, इसीलिए इस संघ में प्रविष्ट करने वाले प्रत्येक सदस्य को *इस्कान* पूर्ण बनाना चाहता है। इस संघ के सदस्यों को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि संघ एक मुफ्त का भोजनालय नहीं है। इस संघ के सभी सदस्यों को अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों का सावधानी के साथ पालन करना चाहिए जिससे नवागत सदस्य स्वतः भक्त बनकर इसी जीवन में ही परम धाम को प्राप्त हो। यद्यपि भरत महाराज को मृग का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु उन्होंने अपने घर, कालंजर पर्वत का फिर परित्याग कर दिया। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी जन्मस्थान तथा परिवार से बँधा न रहे; उसे चाहिए कि भक्तों की संगति प्राप्त कर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे।

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्णातृणवीरुधा वर्तमानो
मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् अपि—उस आश्रम (पुलह आश्रम) में; कालम्—मृग शरीर में जीवन का अन्त; प्रतीक्षमाणः—सदैव प्रतीक्षा में रत; सङ्गात्—संगति से; च—तथा; भृशम्—लगातार; उद्विग्नः—चिन्तापूर्ण; आत्म-सहचरः—परमात्मा को ही एकमात्र संगी मानकर (किसी को अकेले नहीं समझना चाहिए); शुष्क-पर्ण-तृण-वीरुधा—केवल सूखी पत्तियाँ तथा बूटियाँ खाकर; वर्तमानः—(जीवित) रहते हुए; मृगत्व-निमित्त—मृग शरीर धारण करने के कारण; अवसानम्—अन्त; एव—केवल; गणयन्—विचार करते हुए; मृग-शरीरम्—मृग के शरीर को; तीर्थ-उदक-क्लिन्नम्—उस तीर्थ स्थान के जल में स्नान करते हुए; उत्ससर्ज—त्याग दिया।

उस आश्रम में रहते हुए महाराज भरत अब कुसंगति का शिकार न होने के प्रति सतर्क रहने लगे। किसी को भी अपना विगत जीवन बताये बिना वे उस आश्रम में मात्र सूखी पत्तियाँ खाकर रहते थे। वास्तव में वे अकेले न थे क्योंकि उनके साथ परमात्मा जो थे। इस प्रकार वे इस मृग शरीर के अन्त की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उस तीर्थस्थल में स्नान करते हुए उन्होंने वह शरीर छोड़ दिया।

तात्पर्य : वृन्दावन, हरद्वार, प्रयाग तथा जगन्नाथ पुरी जैसे तीर्थस्थान विशेष रूप से भक्ति-साधना के निमित्त हैं, विशेषतः वृन्दावन श्रीकृष्ण के उन वैष्णव भक्तों के लिए जो वैकुण्ठ लोक को वापस प्राप्त करना चाहते हैं अत्युत्तम तीर्थस्थान है। वृन्दावन में ऐसे अनेक भक्त हैं, जो नित्य यमुना में स्नान करते हैं जिससे उनके सारे भौतिक कल्मष धुल जाते हैं। परमेश्वर के पवित्र नामों तथा लीलाओं का निरन्तर संकीर्तन तथा श्रवण करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और मुक्ति का पात्र बन जाता है। किन्तु यदि कोई जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति का शिकार होता है, तो उसे कम से कम एक बार महाराज भरत की भाँति दण्ड भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “भरत महाराज के चरित्र का वर्णन” नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।